विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ

1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

विक्रमयुगीन रसायन विज्ञान का विश्लेषण
डॉ. मुकेश कुमार शाह

पृष्ठ क्र. 3-4

कला का नवजागरण काल
मिथिलेश यादव

पृष्ठ क्र. 5-6

भारत भूमि पर ग्रीक शासक
यतींद्र तिवारी

पृष्ठ क्र. 7

भारतीय महाकाव्यों की संस्कृति
ईशान अवस्थी

पृष्ठ क्र. 8

शारंगदेव का संगीतरत्नाकर
विजय मालवीय

विक्रमयुगीन रसायन विज्ञान का विश्लेषण

डॉ. मुकेश कुमार शाह

प्रथम शताब्दी ई.पू. में उज्जयिनी में विक्रमादित्य नामक प्रतापी शासक हुआ। जैसा कि प्रारम्भ में वर्णित है कि उन्होंने शकों को पराजित किया तथा एक नये सम्वत् का प्रारम्भ किया। विक्रमादित्य का शौर्य एवं पौरुष से प्रभावित होकर कालान्तर में अनेक शासकों ने अपनी उपाधि विक्रमादित्य धारण की और इस प्रकार विक्रमादित्य की परम्परा प्रारम्भ हो गयी। ई.पू. प्रथम शताब्दी के विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता अभिलेखीय और पुरातत्वीय आदि प्रमाणों से तो अब सिद्ध हो ही गया है किन्तु रसशास्त्रीय आयुर्वेदिक ग्रन्थों तथा अलबरूनी के यात्रा विवरण से भी इसे सिद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है, साथ-ही विक्रमादित्य के युग में विज्ञान एवं तकनीकी के अन्तर्गत रसशास्त्र के विकास का प्रतिपादन भी किया जा रहा है।

प्राचीन भारत में वाग्भट्ट नामक दो आयुर्वेदाचार्य हुए, जिनकी तिथि प्रायः गुप्त काल में निर्धारित होती है। इन्होंने अष्टांगहृदय तथा अष्टांगसंग्रह इत्यादि ग्रन्थों का प्रणयन किया था। उनके एक अन्य ग्रन्थ का नाम रसरत्नसमुच्चय है, जो कि प्राचीन रसायनशास्त्र के रूप में ख्याति प्राप्त है। इस ग्रन्थ में वाग्भट्ट ने अपने पूर्ववर्ती 27-रसायनशास्त्रियों और आयुर्वेदाचार्यों को एक श्लोक में निबद्ध किया है, जिसमें 'व्याडि' का नाम भी स्मृत हुआ है। इसमें क्रमशः आगम, चन्द्रसेन, लंकेश, विशारद, कपालि, मांडव्य, भास्कर, शूरसेनक, रत्नकोश, शंभु, सात्विक, नरवाहन, इन्द्रद, गोमुख, कम्बलि, व्याडि, नागार्जुन, सुरानन्द, नागबोधि, यशोधन, खंड, कापालिक, ब्रह्मा, गोविन्द, लमपक और हरि रसशास्त्रियों का नामोल्लेख हुआ है। ये सभी रसायनज्ञ वाग्भट्ट के पूर्ववर्ती थे और श्लोक में व्याडि के बाद नागार्जुन का नामोल्लेख हुआ है। एक नागार्जुन कनिष्क के दरबार में हुआ करते थे तथा धातुविद् थे और प्रमुखतः पारे और अन्य धातुओं की भस्म से सम्बन्धित वैज्ञानिक थे। श्लोक में उद्धृत नामों के क्रम को सही मानें और नागार्जुन को प्रथम शताब्दी ईस्वी का मानें तो निश्चय ही व्याडि उनके पूर्ववर्ती सिद्ध होते है। ऐसी स्थिति में वे प्रथम शताब्दी ई.पू. में उज्जयिनी के शासक विक्रमादित्य के समकालीन ठहरते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में विक्रमादित्य और व्याडि के सम्बन्ध में जो प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे है, उसके अन्तर्गत अलबरुनी का उल्लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जो कि ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वी में महमूद गजनवी के भारत आक्रमण के समय साथ आया था। उसके ग्रन्थ किताब-उल-हिंदी को ग्यारहवीं शताब्दी का दर्पण कहा जाता है तथा इसे ऐतिहासिक ग्रन्थ माना जाता है। अतः अलबरूनी (अबू रेहान मुहम्मद इब्न अहमद अल-बिरुनी) ने अपने ग्रन्थ में ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत किये है। रसशास्त्र के विषय में अपने विचार स्पष्ट करते हुए अलबरूनी ने इस विद्या को कीमियागिरि (एक प्रकार का इन्द्रजाल) कहा है। इस विषय में उसने कहा है कि इस विद्या को जानने वाले व्यक्ति इसे गुप्त रखना चाहते हैं, जो व्यक्ति उनके सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं होता, वे उसके सम्पर्क में आने से बचते फिरते हैं। इसलिए हिन्दुओं में इस विद्या को मैं नहीं जान सका। मैं नहीं कह सकता कि वे खनिज या प्राणिज अथवा वानस्पतिक क्या वस्तु काम में लेते हैं। मैंने उनसे ऊर्ध्वपातन, भस्मीकरण आदि शब्द सुने है, जिससे मैंने समझ लिया कि ये कीमियागिरि की खनिज द्रव्य सम्बन्धी क्रियाएँ हैं। सामान्य रूप अलबरूनी ने इसी कीमियागिरि के प्रमुख व्याडि का उल्लेख भी अपने ग्रन्थ में किया है। वे कहते हैं कि विक्रमादित्य जिसके नाम का सम्वत् चल रहा है, उसकी राजधानी उज्जैन में व्याडि रहते थे। जिसने अपना सारा जीवन तथा धन इसी विद्या के पीछे (धातुवाद) लगा दिया था। परन्तु उन्हें इसमें इतनी भी सफलता नहीं मिली, जो कि प्राप्त हो सकती थी। इससे निराश होकर वह नदी के किनारे जाकर उदास मन से रोते हुए बैठ गये। उनके हाथों में

अपना 'फार्मेकोपिया' (औषध निर्माण प्रक्रिया की पुस्तक) था, जिससे वह अपनी चिकित्सा के नुस्खे लेते थे। परन्तु वह अब इसका एक–एक पृष्ठ फाड़ कर नदी के जल में बहाने लगे। भाग्य से एक वेश्या उसके सभी पृष्ठों को बटोरती गयी। उन सब को जोड़ कर उसने देखा कि इनका सम्बन्ध रसायन से है। वह व्याडि के समीप आयी तथा उसे इस विद्या को और आगे बढ़ाने को कहा तथा इसके लिए धन उपलब्ध कराया। दुर्भाग्यवश वह पुस्तक पहेली रूप में लिखी हुई थी, इसलिए औषध के नुस्खे की वस्तु को वह ठीक प्रकार से नहीं समझ पाते थे। पुस्तक में एक शब्द ऐसा था जिसका अर्थ–तेल और मनुष्य का रक्त था। दोनों वस्तुओं की इसमें जरूरत थी, जबकि पुस्तक में इसके लिए रक्तमाल लिखा हुआ था। उसने इसे लाल आंवला समझा। जब लाल आंवला को क्वाथ में डाला गया तो कोई लाभ नहीं हुआ। अब उसने भिन्न–भिन्न औषधियों से काम करना आरम्भ किया परन्तु ज्वाला उसके सिर को छूने लगी और दिमाग सूखने लगा। इसलिए उसने सिर पर खूब तेल डाला और जब किसी कार्य से वह अपने अग्नि–कर्म के स्थान से चलने लगा तो उसका सिर एक कील से टकरा गया, जिससे रक्त गिरने लगा। दर्द के कारण वह नीचे देखने लगा, जिससे कि उसके सिर से तेल में मिला रक्त बिना उसकी जानकारी के आग में गिरने लगा। पकने की क्रिया जब समाप्त हो गयी तथा जब इस लेप को वह और उसकी पत्नी शरीर पर मलने लगे, ताकि इस लेप की परीक्षा हो सके। लेप लगाने के बाद वे आकाश में उड़ने लगे। विक्रमादित्य ने जब इस समाचार को सुना वह तुरन्त उस स्थान पर पहुँचे। उन्होंने इस दृश्य को अपनी आँखों से देखा। तब आदमी (व्याडि) चिल्लाया कि मेरे थूक के लिए मुख खोलो, परन्तु राजा ने मुख नहीं खोला। इसलिए थूक दरवाजे के पास गिरा और देहली तुरन्त सोने से भर गयी। इसके बाद व्याडि और स्त्री अपने इच्छानुसार उड़ने लगे। उसने इस विद्या पर प्रसिद्ध पुस्तक भी लिखी। (इसी प्रकार अलबरूनी ने धार के राजा भोज के भवन में चाँदी की घटना का वर्णन भी अपने ग्रन्थ में किया है, जिससे प्रतीत होता है कि ये सभी घटनाएँ उज्जैन और मालवा में ही हुई हैं)। अलबरूनी के अतिरिक्त सोमदेव ने अपने 'कथासरित्सागर' नामक ग्रन्थ में उद्धृत किया है कि महाराजा विक्रमादित्य के समय में एक बड़ा रसायनशास्त्र व्याडि, उज्जैन नगर में रहता था तथा व्याडि के जिस ग्रन्थ का नाम अलबरुनी ने उद्धृत नहीं किया, उसका उल्लेख सोमदेव ने किया है कि उसने 'भैषज संस्कार' नामक ग्रन्थ लिखा था। इसके बाद का वर्णन वैसा ही है, जैसा कि अलबरूनी ने प्रस्तुत किया है। उल्लेखनीय है कि कथासरित्सागर को भी ऐतिहासिक ग्रन्थों की श्रेणी में रखा जाता है, अतः इन विवरणों से विक्रमादित्य की भी ऐतिहासिकता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त राजशेखर ने अपने ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' में पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि और पतंजलि ने पाटलिपुत्र में ही लिखा है कि शास्त्रकारों की परीक्षा पाटलिपुत्र में होती थी और परीक्षा दी थी। इस सूची में व्याडि और वररुचि मालवा के ही व्यक्ति थे, जो कि विक्रमादित्य के समय में हुए थे।

साथ ही पतंजलि को भी मालवा का ही माना जाता है, जो कि गोनार्द में हुए थे। यद्यपि पतंजलि की भी कुछ परम्पराएँ हुई है, तथापि उपर्युक्त पतंजलि यदि महाभाष्य के रचयिता है तो इनका सम्बन्ध भी मालवा से ही था। यह जानकारी भी हमें ज्योतिर्विदाभरण के उल्लेख से मिलती है जो कि विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक थे।

राजशेखर अपने ग्रन्थ में आगे उल्लेख करते हैं कि व्याडि और भर्तृहरि तथा महर्षि पतंजलि ने इस संग्रह से कई उद्धरण दिये हैं। नागेश ने उद्योत में व्याडि के विषय में लिखा है कि व्याडि के संग्रह में एक लाख श्लोक प्रसिद्ध है। सम्भव है। कि साहित्यिक व्याडि और वैज्ञानिक व्याडि एक ही हो। व्याडि के उत्पलिनी नामक कोषग्रन्थ के भी उद्धरण कहीं–कहीं मिलते हैं। 'शब्दकल्पद्रुम' में व्याडि को कोषकार बताया है। हेमचन्द्र ने व्याडि को विषयवासी और नन्दिनीतनय बताया है। दक्ष की सबसे बड़ी कन्या दासी के पुत्र पाणिनी बताये जाते है और दक्ष के सबसे छोटे पुत्र के प्रोत्र व्याडि बताये जाते हैं। पतंजलि ने भी महाभाष्य में व्याडि की 'अपिलश–पाणिनीय व्याडीय–गोतमीयाः' व्याडि के विषय में गरुड़ पुराण में भी उल्लेख आया है– व्याडिर्जगाद जगता हि महाप्रभाव सिद्धो विदग्ध हित तत्परया दयालुः। विष्णुदेव ने भी रसावर्ण, काकचंडीश्वर, नागार्जुन, व्याडि, स्वच्छन्द दामोदर वासुदेव, भगवदगोविन्द, चरक, सुभुत, हारीत, भद आत्रेयादि के प्रति अपने श्लोक में कृतज्ञता व्यक्त की है ये सभी प्रारम्भ से लेकर तेरहवी शताब्दी ईस्वी तक के रसायनाचार्य है। नागार्जुन के बाद व्याडि का उल्लेख हुआ है, किन्तु यह ग्रन्थ तेरहवीं शताब्दी का है अतः नामों के क्रम में परिवर्तन संभव है, चरक सुश्रुत और वाग्भट के नाम व्यादि के बाद के हैं और चरक प्रथम शताब्दी ईसवी, सुश्रुत चौथी शताब्दी ईस्वी के माने जाते है।

कला का नवजागरण काल

मिथिलेश यादव

गुप्त सम्राटों के शासनकाल (300–600 ई.) के तीन सौ वर्षों का समय भारतीय संस्कृति और कला के नव जागरण तथा चरम विकास का स्वर्णयुग रहा है। यद्यपि मौर्यों, शुग–सातवाहनों और कुषाणों के शासनकाल में भारतीय संस्कृति एवं कला का निरन्तर निर्माण तथा विकास होता रहा और उसमें विश्वजनीन सार्वभौमिकता का दृष्टिकोण उभरता एवं बलवत्तर होता रहा, फिर भी उसका पूर्ण परिपाक और समन्वय गुप्तयुग में ही देखने को मिलता है। गुप्त सम्राट् स्वयं भागवतधर्म के अनुयायी परम भागवत होते हुए भी धर्मनिरपेक्ष थे। उन्होंने हिन्दू, बौद्ध और जैन तीनों धर्मों के विभिन्न मतों एवं पन्थों को उनकी निष्ठाओं, परम्पराओं तथा विश्वासों के अनुरूप विकसित होने की समस्त सुविधाएँ प्रदान कीं। उनके इस धार्मिक औदार्य के कारण एक ओर तो देश के विभिन्न भागों में परम्परागत कला–केन्द्रों के पुनर्निर्माण में प्रगति हुई और दूसरी ओर कलाकारों तथा शिल्पियों को अपूर्व प्रोत्साहन प्राप्त होने के फलस्वरूप नयी कला–शैलियों का निर्माण होकर कला के क्षेत्र में एक ऐसी भव्यता, कोमलता और सौष्ठवता का उन्मेष हुआ, जिसके प्रभाव की छाप वृहत्तर भारत के भावी कला–निर्माण और सुदूर एशिया की कला–शैलियों पर एक साथ परिलक्षित हुई। भारत प्रचलित सभी धर्मों के अनुयायी साहित्यकारों तथा विचारकों को गुप्त शासकों ने प्रोत्साहित किया तथा प्रश्रय दिया और शिक्षा–दीक्षा, चिन्तन–अनुसन्धान के जितने भी ज्ञान केन्द्र थे उनके संवर्द्धन में रुचि लेकर उनके नव निर्माण में सक्रिय योगदान किया। उन्होंने बौद्ध मठों, जैन उपाश्रयों और ब्राह्मण मन्दिरों को, जो केवल धर्म के एकांगी आश्रय थे, उन्हें विद्यापीठों के रूप में परवर्तित किया। नालन्दा विहार को महाविहार के रूप में परिणत करके उन्होंने उसे विश्वविद्यालय के स्तर पर विकसित एवं प्रतिष्ठित किया, जिसके कारण भारत में ज्ञान के प्रसार को बल मिला और जिसके द्वारा एशिया के सुदूर देशों में भारतीय ज्ञान का आलोक फैला। तीनों धर्मों की दार्शनिक विचारधाराओं के लिए देश की बौद्धिक प्रतिभाओं को राष्ट्रीय सम्मान देकर उनको वे समस्त सुविधाएँ दी, जिनके कारण विभिन्न विषयों के महानतम् कृतियों का निर्माण होकर भारतीय वांग्मय में ज्ञान की नई शाखाएं पल्लवित हुई। गुप्त युग में धर्म दर्शन काव्य महाकाव्य नाटक कथा काव्यशास्त्र ज्योतिष और आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयों पर श्रेष्ठ कृतियों का सृजन हुआ। इसी युग में पुराणों तथा धर्मशास्त्रों का पुनः संस्करण हुआ और अनेक नए पुराण निर्मित हुए। संस्कृत को राष्ट्रभाषा का सम्मानित स्थान देकर भक्तों ने उसे राजकाज की भाषा बनाया।

साहित्यिक निर्माण के साथ–साथ कला की विभिन्न शैलियों का होकर लोक जीवन उध्यतर नैतिक अभ्युत्थान की

और तेजी से अग्रसर हुआ। साहित्य के लोक–कारी उतध्ये कला में रूपायित हुए और उन्होंने समाज के जीवन–स्तर को उन्नत किया। साहित्य और कला का समन्वय होकर निर्जीव एवं कठोर भाषण शिलाओं एवं पर्वतों से प्राणदायी जीवनधाराएँ बह निकली। भास, अश्वघोष कालिदास और भारवि आदि का भावलोक, उन्हीं गहराइयों तथा उसी ओजस्विता एवं सुन्दरता के साथ रेखाओं तथा रंगों में साकार कर जनता के जीवन में घुल–मिल गया। साहित्य–लष्टाओं की भाँत कलाकारों की की नारी सौन्दर्य की अभिव्यंजना में विशेष अभिरुचि रही है। जहाँ तक गुप्तयुगीन कलाकारों द्वारा नारी के रूपोकल का सम्बन्ध है, उसकी अपनी अलग विशेषता है, जो उसे परम्परा से अलग करती है। मथुरा मरहुता और साँची आदि कला–केन्द्रों में परम्परा से जिन अप्सराओं, वनदेवियों तथा यक्षिणियों की मूर्तियों का निर्माण हुआ ये कटिवस्त्र पहने अवस्था में है। कुषाणयुगीन मूर्तियों तो प्रायः नग्नावस्था में है। सवसभाओं में भी पारदर्शिता झलकती है। स्वभावतः इन कला–कृतियों का प्रयोजन सम्पूर्ण शरीर के आकर्षण को प्रदर्शित करना रहा है, यद्यपि साथ ही उनके उत्कृष्ट कलात्मक अभिप्राय नितान्त अनुपेक्षणीय हैं। गुप्तयुगीन कलाकारों ने भी नारी मूर्तियों का निर्माण किया, किन्तु उनका दैहिक सौन्दर सौन्दर्य उत्कृष्ट शृंगारिक न होकर प्रांजल जल और संयत है क्योंकि उनके निर्माता कलाकारों के समक्ष गुप्त सम्राटों के नैतिक आदर्श भी विद्यमान थे। गुप्तयुगीन अजन्ता की नारी

छवियों में यह आदर्श–भाव भरपूर रूप से उभरा है।

काव्यगत शारीरिक या आंगिक सौन्दर्ययुक्त ये कला–कृतियाँ वस्तुतः किसी प्रकार की कामुकता तथा संकीर्णता की उद्‌भावक नहीं हैं। ध्वन्यात्मकता, भंगिमा और भाव–सौष्ठवता आदि कला के जो अपरिहार्य गुणधर्म हैं, इनके द्वारा ही उनकी यथार्थता को अभिव्यक्त किया गया है। यदि ऐसा न होता तो गुप्त युग की यह कला–थाती इतनी चिरन्तन, लोकप्रिय और ऐसी विश्वव्यापी ख्याति अर्जित नहीं कर पाती। सौन्दर्य एवं चारुता से आप्यायित इन कलाकृतियों में कामुकता की खोज करने वाले रसाभासित अरसिक जिज्ञासु के लिए साथ–साथ शिव द्वारा काम–दहन और बुद्ध द्वारा मार–पराजय के आदर्श भी मूर्तित हुए हैं।

भारतीय काव्य और कला में परम्परा से सौन्दर्य में पापवृत्ति की अवधारणा को हेय समझा गया और जीवन के लिए उसकी अनिवार्यता को भी स्वीकार किया गया। है। इसलिए भारत में कला को सत्य–शिव–सुन्दर त्रिविधरूपा कहा गया है।

गुप्तयुगीन कला–कृतियों की विशेषता उनके विषय–वैभिन्न्य में देखने को मिलती है। परम्परा से समाज द्वारा स्वीकृत धार्मिक तथा पौराणिक कथा– आख्यायिकाओं पर आधारित देवी–देवताओं, गन्धर्वों, अप्सराओं, नागों, यक्षों और धार्मिक पुरुषों से सम्बद्ध मूर्तियों तथा चित्रों को गुप्तयुगीन कलाकारों ने ऐसा रूप दिया कि सभी धर्मों के अनुयायियों का उनके प्रति आकर्षण बना रहे। शिव, शक्ति, राम, कृष्ण, बुद्ध और महावीर आदि सभी धर्म–सम्प्रदायों के देवी–देवताओं, महापुरुषों को मूर्तित एवं चित्रित करके गुप्तयुगीन कलाकारों ने जहाँ एक और अपनी कला–साधना की गरिमा को प्रस्तुत किया, वहीं अपनी धर्मनिरपेक्षता का भी परिचय दिया। गुप्तयुगीन कला की एक विशेषता यह भी देखने को मिलती है कि उसमें नव–नवीन कल्पनाओं तथा लोक–विश्वासों को मानवोपयोगी एवं प्रभावकारी बनाने का अपूर्व प्रयत्न किया गया है। शिव, विष्णु, राम, कृष्ण और अपरिमेयता, असहज महामानवता को परिमिति देकर उनमें मानवीकरण करके लोक–सहज बना दिया गया है। अधिकतर साहित्य–स्रष्टाओं ने जहाँ उनकी लोकोत्तरता का वर्णन करके तथा उन्हें देवत्व के स्थान पर प्रतिष्ठित करके आराध्य एवं सम्पूज्य तो बना दिया, किन्तु दोनों में आकाश और पृथ्वी की सनातन गहराई को वे मिटा न सके। कलाकार की तूलिका ने उसे सर्वथा मिटा दिया। कलाकारों ने इन लोकोत्तर चरितों को लोकसामान्य में अवतरित कर आदर्श तथा मर्यादा और लोकहित का नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन शाश्वत आध्यात्मिक विभूतियों को लोकानुग्रही, कृपालु और संवेदनशील बनाकर मानव धरातल पर उतार दिया। सांसारिक क्रिया–कलापों की गहन अनुभूतियों को अंतस्तल में समेटे हुए मथुरा की बुद्ध प्रतिमा मानवता को शांति, सयम और आत्मनिरीक्षण की ओर प्रेरित करती है। उसमें मानव–मानव के प्रति असीम करुणा और अपरिमित दया का छलकता हुआ भाव दिखायी देता है। इस सार्वभौम मानवीय संवेदना के कारण, मानवता के दुःख से आतुरदृकातर महामानव बोधिसत्व अवलोकितेश्वर की यह ध्यानस्थ मुद्रा जिस प्रकार भारतीय कला की अन्तःचेतना के रूप में समादृत एवं लोक–सम्मानित होती रही, उसी प्रकार भारत के बाहर लंका, चीन, जापान, कोरिया, मध्य एशिया वर्मा, श्याम, जावा और कम्बोडिया आदि विभिन्न देशों की कला–थाती को उत्प्रेरित करती हुई विश्व चेतना को सम्मोहित करती रही। उसकी मुखाकृति में देशज भाव की भिन्नता होते हुए भी मुद्रा ठीक वही है, जो मथुरा, साँची, सारनाथ और बोधगया की गुप्तकालीन मूर्तियों में दर्शित है।

सौन्दर्य, प्रेम और अनुराग की देवियाँ आज भी अपने निर्माताओं के कौशल की अनुपमता को सुरक्षित बनाये हुई हैं। इस प्रकार की कला–कृतियों में बोस्टन संग्रहालय में सुरक्षित गंगा की मूर्ति, बम्बई संग्रहालय में सुरक्षित शिवानुरक्त पार्वती की मूर्ति और विभिन्न अप्सराओं, यक्षिणियों तथा वन–देवियों की छवियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनमें अन्तर्निहित शिल्प संरचना, आदर्श, नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रयोजन समस्त एशिया की कला पर परिलक्षित हुए। ऐसा इसलिए सम्भव हुआ कि इन गुप्तयुगीन कला–कृतियों में आध्यात्मिकता और भौतिकता का ऐसा सन्तुलन एवं समन्वय दर्शित है, जिसके द्वारा नारी के सनातन आदर्श गुणों तथा उसकी सर्वमान्य मर्यादाओं की अवमानना नहीं हुई। इस प्रकार मूर्तिकला के क्षेत्र में गुप्त युग चरमोन्नत स्थिति में था। गुप्त युग की तक्षण कला (भास्कर्य) भारतीय कला–इतिहास की सर्वथा अपूर्व देन है। कुषाणयुग में ग्रीक प्रभावों से मुक्त जिस गान्धार शैली का उदय हुआ था, गुप्त युग में उसका सर्वथा भारतीयकरण हुआ और इस नये रूप में वह देश के विभिन्न कला–केन्द्रों में प्रतिष्ठित हुई। गुप्त युग में निर्मित बहुसंख्यक मृणमूर्तियाँ देश के विभिन्न संग्रहालयों में अपनी दिव्यता एवं भव्यता के लिए कलाविदों की गवेषणा का प्रमुख आकर्षण रही हैं। इस युग में धातु–निर्मित कला–कृतियों का भी व्यापक रूप से प्रचलन हुआ। कुर्किहार आदि स्थानों से प्राप्त ताम्रनिर्मित बुद्ध प्रतिमाएँ गुप्तयुगीन कलाकारों के कौशल की अनुपम अभिव्यक्तियाँ हैं। इसी प्रकार दिल्ली के निकट मेहरौली का लौह–स्तम्भ तो मानो तत्कालीन धातु–शिल्प का अमर स्मारक है। यह लौह–स्तम्भ शताब्दियों पूर्व से प्रकृति के शीत–ताप के आघातों को आत्मसात करता हुआ गुप्तों के गौरव का उद्‌घोष कर रहा है। वास्तुकला के क्षेत्र में भी गुप्त युग उन्नत था। उस युग की वास्तुकला के परिचायक अधिकतर निर्माण कार्य यद्यपि काल–कवलित हो गये, किन्तु जो उपलब्ध एव जीवित हैं उनसे सहज ही तत्कालीन स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। झाँसी के देवगढ़ और भीतरगाँव के मन्दिरों की भव्य वास्तुकला गुप्तयुग की अविस्मरणीय देन है। इन दोनों स्थानों के मन्दिरों की दीवारों पर बैठायी गयी मृण्मयी मूर्तियों से विदित होता है कि इस क्षेत्र में गुप्त युग पर्याप्त उन्नति पर था इन मृण्मय मूर्तियों द्वारा कला के साथ ही तत्कालीन वैष्णवधर्म की लोकप्रियता का भी पता चलता है।

भारत भूमि पर ग्रीक शासक

यतींद्र तिवारी

भारत में मौर्य शासन के अन्तिम चरण में राजनीतिक और सामाजिक स्थिति अत्यन्त अव्यवस्थित तथा अस्थिर हो चुकी थी। मौर्यों के उत्तराधिकारी शुंगवंशीय शासक पुष्यमित्र के शक्तिशाली शासन में यद्यपि उत्तर भारत की ओर बढ़ता हुआ यवनों का प्रभाव कुछ समय के लिए शिथिल हो गया था। किन्तु पुष्यमित्र के बाद कोई सुयोग्य शासन–संचालक न रहा। बढ़ते हुए यवन प्रभाव का अवरोध करने में शासक असमर्थ रहे। इतिहास के सन्दर्भों से विदित होता है कि भारत पर ग्रीक सामरिकों के निरन्तर कई आक्रमण हुए। सबसे पहला आक्रमण दूनिया के महान् विजेता सिकन्दर ने 326 ई. के लगभग किया था। दूसरा ग्रीक आक्रमण सेल्यूकस द्वारा 306 ई. पूर्व में हुआ। इसी प्रकार तीसरा आक्रमण अन्तियोकस तृतीय ने 306 ई. पूर्व में किया। बाद के शक्तिशाली आक्रान्ताओं में बाख्त्री के दिमित (डेमिट्रियस). युक्रेतिद और मेनांडर नामक तीन विजेताओं के नाम उल्लेखनीय हैं। ये तीनों आक्रमण लगभग 206–175 ई. पूर्व के बीच हुए। इन तीनों यवन शासकों तथा उनके उत्तराधिकारियों ने लगभग 160 वर्षों तक तत्कालीन सीमा प्रान्त, सिन्ध और पंजाब पर शासन किया। भारत में अपने शासन और प्रभाव की जड़ें जमाने वाले यवन शासकों में मेनोडर (180–145 ई. पूर्व) का नाम उल्लेखनीय है। वह एक शक्तिशाली, न्यायपरायण, उदार और सहिष्णु शासक था। उसके साम्राज्य की सीमाएँ उत्तर–पश्चिम सीमा प्रान्त, पंजाब, सौराष्ट्र और सुदूर पश्चिम तक विस्तृत थीं। तत्कालीन राजधानी पाटलिपुत्र पर अधिकार करने के उद्देश्य से उसने पहले राजपूताना और उसके बाद मथुरा पर तीव्र आक्रमण किये। इन आक्रमणों में उसने व्यापक पैमाने पर भारतीय सैनिकों को आहत किया। बाद में बौद्ध भिक्षु नागसेन के प्रभाव में आकर उसने बौद्धधर्म वरण कर लिया था। तत्पश्चात् उसकी आक्रमण प्रवृत्ति मन्द पड़ गयी। भिक्षु नागसेन और मेनांडर के धार्मिक सद्भाव का परिचय 'मिलिन्द प्रश्न (मिलिन्दपञ्ह)' नामक ग्रन्थ से प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ को बौद्ध अनुपिटक साहित्य में प्रमुख स्थान दिया गया है। इसका चीनी भाषा में (317–420 ई) 'नागसेनसूत्र' के नाम से एक अनुवाद भी हुआ था। इस ग्रन्थ का बौद्ध तत्वज्ञान के अतिरिक्त साहित्य तथा इतिहास की दृष्टि से भी महत्व है। इसमें बौद्ध धर्म–दर्शन की कतिपय मूल मान्यताओं पर प्रश्नोत्तर रूप में वार्तालाप वर्णित है। इस ग्रन्थ का बौद्ध तत्वज्ञान तथा साहित्य की दृष्टि से ही नहीं, अपितु भारतीय तथा यवन संस्कृति का संगम होने के कारण भी बहुत बड़ा महत्व है। उसके प्रभाव से यवन शासकों ने बौद्धधर्म की दीक्षा लेकर भारतीयता को वरण किया। इस ग्रन्थ के प्रभाव से तथा बौद्ध बन जाने के कारण मेनांडर का व्यक्तित्व बौद्ध–साहित्य में व्याप्त हो गया और वहाँ वह मिलिन्द इस नये नाम से अभिहित हुआ। सीमा प्रान्त में प्राप्त खरोष्ठी भाषा के उसके अभिलेखों में उसका 'मिनद्र' नाम से उल्लेख हुआ है। इस यवन शासक के सिक्के काबुल से दक्षिण भारत तथा पश्चिम से मथुरा, कोशाम्बी और वाराणसी आदि अनेक अंचलों से प्राप्त हुए हैं। उसका निधन 150–145 ई. पूर्व के मध्य में हुआ। मेनांडर के अतिरिक्त अन्य यवन शासकों में डेमिट्रियस, युक्रेटिडीज या युक्रेतिद और अन्तियालसिदाज का नाम उल्लेखनीय है। महाभारत में जिसे दत्तमित्र, वेसनगर मुहर में तिमित्र और दिव्यावदान में कृमिस कहा गया है, सम्भवतः वह डेमिट्रियस से सम्बन्धित है। इन विदेशियों ने मुख्य रूप से अफगानिस्तान, पंजाब तथा सिन्ध क्षेत्र तक ही शासन किया। उनके शासनकाल की अन्तिम सीमा 110 ई. पूर्व तक मानी गयी है। किन्तु उनके बाद भी लगभग दो सौ वर्षों तक भारत में उनकी परम्परा का अस्तित्व बना रहा। भारतीय धर्म, रीति–रिवाजों और आचार–व्यवहारों को ग्रहणकर उक्त ग्रीक शासकों ने अपनी सहज सहिष्णुता और देशभक्ति का परिचय दिया। यह एक विचित्र संयोग था कि इन यवनों के साथ भारतीयों का राजनीति एवं शासन की अपेक्षा विचारों और कला, संस्कृति की दृष्टि से घनिष्ठ और चिरस्थायी सम्बन्ध रहा। मेनांडर जैसे धर्मप्राण शासक ने अनेक बौद्धविहारों का निर्माण कराया, ब्राह्मणों को दान–दक्षिणा दी और कलाकारों को सम्मानित–प्रोत्साहित किया। वह स्वयं भी भारतीय संस्कारों एवं विचारों में घुल–मिल गया था। भारत में यवन संस्कृति का प्रभाव अनेक रूपों में प्रसारित हुआ। उसका सर्व प्रथम प्रभाव भारतीय सिक्कों पर परिलक्षित हुआ। यवनों की सुरुचि के परिणामस्वरूप उत्तर–पश्चिम भारत में अपूर्व कलात्मक सिक्कों का प्रचलन हुआ। भारत–यवन सांस्कृतिक समन्वय से अनेक क्षेत्रों में सर्वथा नये रचना प्रकार प्रकाश में आगे, जिन्होंने आगे की अनेक पीढ़ियों पर अपने प्रभाव की गहरी छाप अंकित की। भारत में ग्रीक कला के अनुकरण पर वास्तुकला और तक्षणकला के क्षेत्र

में जो नमूने प्राप्त हुए हैं, उनमें ई. पूर्व प्रथम शती के प्रसिद्ध ज्ञान–कला केन्द्र तक्षशिला में निर्मित एक देव मन्दिर के ऊँचे यवन स्तम्भ और कुछ भवन उल्लेखनीय हैं। ई. पूर्व प्रथम शती में उदित 'गान्धार शैली' भारतीय–यवन कला–समन्वय की ज्वलन्त प्रकाश किरण है, जिसके कारण भारतीय कला के इतिहास को नया आलोक मिला। भारतीय कलाकारों ने गान्धार शैली के नये–नये प्रयोग करके ऐसी अमर कला–कृतियों का निर्माण किया, जिनका महत्व सदियों बाद आज भी बना हुआ है। इस प्रकार के विभिन्न कला केन्द्रों में सुरक्षित तथागत बुद्ध की भव्य विशाल प्रतिमाओं में लाहौर, पेशावर और शिमला संग्रहालयों की प्रतिमाओं का नाम उल्लेख है। इस प्रकार भारत में यूनानियों और ईरानियों के प्रवेश से कला और संस्कृति के क्षेत्र में निश्चित ही नये मान–मूल्यों की स्थापना हुई और नयी प्रेरणाप्रद एवं उन्नत, परिष्कृत शिल्प–विधियों का विकास हुआ। किन्तु जहाँ तक धर्म, दर्शन और साहित्य का सम्बन्ध है, भारत में उनकी परम्परा इतनी उन्नत, सम्पन्न और स्थायी थी कि यवन संस्कृति उससे प्रभावित हुए बिना न रही। यहाँ के आध्यात्मिक मान–मूल्यों, चिन्तन–पद्धति और महान् विचारों ने यवनों के भौतिकवाद को पर्याप्त रूप में प्रभावित किया। भारतीय ज्योतिर्विज्ञान के क्षेत्र में यवनों का योगदान विशेष उल्लेखनीय है। इसी कारण 'गार्गी संहिता' में ज्योतिर्विद्या के प्रवर्तक होने के कारण यवनों को देवताओं के समान वन्दनीय कहा गया है। यवनों का यह प्रभाव विशेष रूप से गणित और गौण रूप से फलित ज्योतिष के क्षेत्र में चरितार्थ हुआ। किन्तु कुछ आधुनिक विद्वानों ने इसको अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया है। सूर्यसिद्धान्त के स्वोपज्ञ अनुवाद की भूमिका में हिटनी साहब का अभिमत है कि 'ईस्वी सन्' के आरम्भ में रोम के व्यापारिक बन्दरगाहों का भारत के पश्चिमी तट से व्यापार होता था। इस सम्पर्क के कारण ही टालेमी और हिपार्कस की ज्या की कल्पना पर ही हिन्दुओं की 'ज्याधो' की कल्पना सूझी। हिटनी साहब की इस स्थापना का उत्तर रेवरेंड जे. बर्जेश ने 'सूर्य सिद्धान्त' के अपने पाण्डित्यपूर्ण अनुवाद की भूमिका में इस प्रकार दिया है, हिटनी ने अपनी टिप्पणियों में जो मत प्रकट किया है, उससे मेरी दृष्टि सर्वथा भिन्न है। इसलिए संक्षेप में अपना मत देता हूँ। हिटनी का कहना है कि हिन्दुओं ने अपने गणित और जातक मूल रूप में यवनों से लिये हैं और उनका कुछ अंश अरेबियन, खल्डियन एवं चीनियों से लिया। मेरी समझ में वह हिन्दुओं के साथ न्याय नहीं कर रहा है और वह उचित मात्रा से अधिक ग्रीक लोगों को मान दे रहा है। यह सत्य है कि यवन लोगों ने इस शास्त्र में आगे चलकर बहुत–कुछ सुधार किये, तथापि उसके मूल तत्व और उसमें से बहुत से सुधार हिन्दुओं के अपने थे और उन्हीं से यवनों ने यह शास्त्र ग्रहण किया। यह बात मुझे स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है। भारतीयों, यवनों में पारस्परिक आदान–प्रदान की इस स्थिति को दृष्टि में रखकर ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय तथा यवन गणितज्ञों ने लम्बे समय तक एक साथ बैठकर दोनों देशों के परम्परागत ज्योतिर्विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन करके उनके समन्वय से कुछ नये सिद्धान्तों का आविष्कार किया। इसी सामंजस्य के फलस्वरूप भारतीय ज्योतिष में ग्रीक ज्योतिष के आधार पर नये लाक्षणिक शब्दों का समावेश हुआ और कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों की स्थापना हुई। फिर भी यह स्वीकार करने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है कि भारतीय ज्योतिष के 'होडाचक्र' पर ग्रीक ज्योतिष के 'होरस्कोपस' का प्रभाव है। इसी प्रकार भारतीय ज्योतिष का 'जामित्रलग्न' ग्रीकों के 'दायामेत्रान्' पर आधारित है। नक्षत्र–विज्ञान की जानकारी भारत को ग्रीकों से प्राप्त हुई। भारतीय 'रोमक' और 'पोलिश' सिद्धान्त ग्रीक ज्योतिष की देन हैं। फलादेश में भविष्य फल बताने के वैज्ञानिक प्रयोग पर यवनों का प्रभाव है। आचार्य कल्याण वर्मा (577 ई.) कृत यवन–होराशास्त्र का संकलन ग्रन्थ 'सारावली' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। नीलकण्ठ दैवज्ञ की 'नीलकण्ठी' (16वीं शती) पर भी अरबी–फारसी ज्योतिष का स्पष्ट प्रभाव है। भारतीय–ग्रीक ज्योतिष के आदान–प्रदान के फलस्वरूप जहाँ एक ओर भारतीय ज्योतिष में नये सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा हुई, वहीं दूसरी ओर ग्रीक ज्योतिष को भी भारतीय ज्योतिष ने प्रभावित किया। आचार्य ब्रह्मगुप्त (598 ई.) के 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' और 'खण्डखाद्यक' ग्रन्थों का अरब ज्योतिष पर व्यापक एवं स्थायी प्रभाव पड़ा। अरब में उनका अनुवाद हुआ और क्रमशः वे 'असितहिन्द' तथा 'अलअर्कन्द' के नाम से प्रचलित हुए। यह आदान–प्रदान भारत में यवनों के सुशासन का ही सूचक नहीं, वरन सांकृतिक एकता का भी द्योतक है। ग्रीक शासकों की सफलता एवं अविस्मरणीय विशेषता का परिचायक उनका भारतीयता के प्रति गहन अनुराग था। उन्होंने भारतीय धर्म को वरणकर वहाँ की भाषाओं के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की। उनके उत्तर–पश्चिम में जो सिक्के प्राप्त हुए हैं उन पर यवन भाषा के साथ–साथ भारतीय भाषाओं का भी प्रयोग किया गया है, किन्तु पूर्व–मध्य में जो अभिलेख प्राप्त हुए हैं, उनमें केवल भारतीय भाषाओं का ही प्रयोग किया गया है। इस प्रकार का अभिलेख मथुरा तथा बुंदेलखंड से प्राप्त हुए हैं।

भारत में आकर बसने वाले जिन अभारतीय शासकों ने स्वयं को भारतीय संस्कृति में समग्र रूप से विलयित कर दिया था, उनमें शकों के क्षत्रप–वंश का नाम उल्लेखनीय है। यूनानियों के बाद और कुषाणों से पूर्व भारत के अनेक अंचलों में कई नये राजवंशों का उदय हुआ। उनमें दक्षिण के पार्थव (पहलव), पश्चिमोत्तर के क्षत्रप, मथुरा के क्षत्रप, महाराष्ट्र के क्षहरात और उज्जैन के क्षत्रपों का नाम उल्लेखनीय है। इन नवोदित राजवंशों में उज्जैन के क्षत्रपवंश का ऐतिहासिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष महत्व है। विदेश से आये शकों के इस यशस्वी राजकुल ने मध्य–पश्चिम भारत पर लगभग दो–ढाई सौ वर्षों तक शासन किया। उज्जैन के क्षत्रपवंश का प्रथम शासक होने का श्रेय यसामोतिक के पुत्र चष्टन को है, जो कि 130 ई. में सिंहासन पर बैठा। उसी ने उज्जैन को अपनी राजधानी बनाया था।

भारतीय महाकाव्यों की संस्कृति

ईशान अवस्थी

वेदों से पूर्व और वैदिक युग में, विशेष रूप से ऋग्वैदिक काल में जिस समन्वित संस्कृति जिसे वैदिक संस्कृति के नाम से जाना जाता है। जैसे–जैसे परिवर्तित होती रहीं और नयी सामाजिक चेतना का स्फुरण हुआ, संस्कृति के क्षेत्र में भी विकास के नये आयाम जुड़े। भारतीय संस्कृति का नया रूप पौराणिक संस्कृति के नाम से प्रकाश में आया। यह पौराणिक संस्कृति का ही रूपान्तर थी। उसके बाद वैदिक परम्परा के पुराणकालीन ऋषि–मुनियों द्वारा पौराणिक संस्कृति के पल्लवन में जो यशस्वी प्रयत्न हुए, महाकाव्यों की समृद्ध संस्कृति उसी का परिणाम है। नीति, वंशावली, आख्यान, गाथाएँ और नाराशंसी आदि से संबद्ध जिस इतिहास–पुराण का उल्लेख वेदों तथा परवर्ती साहित्य में निहित है।

रामायण और महाभारत में उसका साहित्यिक उत्तराधिकार सुरक्षित है। इतिहास के परम्परागत सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि अतीत के लगभग पाँच हजार वर्षों पूर्व सिन्धुवासियों से आर्यों का जो प्रथम समागम हुआ उसमें पारस्परिक अधिकारों तथा प्रभुत्व की होड़ से दोनों पक्षों में अनेक बार हुए। इन संघर्षों में सिन्धुवासी आर्येतर जातियों के प्रतिनिधि थे दैत्य–दानव और आर्यों के प्रतिनिधि थे सुर या देवता। असुरों पर सुरों की विजय से आर्येतर जातियों पर आर्यों के प्रभुत्व की स्थापना हुई। पहले तो उन्होंने सप्त–सिन्धु पर अधिकार किया और उसके बाद भारत के पूर्व–उत्तर में फैले। ऊपर जिस देवासुर संग्राम की चर्चा की गयी है वह निरन्तार कई सो वर्षों तक चलता रहा। इसलिए स्वभावतः उसमें अनेक देवताओं, ऋषियों, असुरों, राजाओं, सामन्तों, सेनापतियों और योद्धाओं ने वीरगति को प्राप्त किया। अपने आहुति देकर उन्होंने राष्ट्ररक्षा का जो महान् कार्य किया था उसके फलस्वरूप तत्कालीन जनकवियों ने उनकी वीरगाथाओं एवं उदात्त ख्यालों की मौखिक रचना कर डाली और उन्हें समाज में गा–गाकर एक ओर तो उन्होंने जनता में राष्ट्रीय गौरव की स्मृति को उज्जीवित किया और दूसरी ओर उसी के द्वारा अपनी आजीविका की भी रक्षा की। इस प्रकार के आदर्श एवं अनुकरणीय प्रेरणाप्रद वीर–वृत्तों को गा–गाकर सुनाने की परम्परा वैदिक युग से ही चली आ रही थीं। जन–कवियों द्वारा मौखिक सुरक्षित इन ख्यातों का तत्कालीन ऋषिवंशों ने अपने अनुभवों तथा प्रत्यक्षदष्ट घटनाओं के आधार पर अपनी कवि–बुद्धि से काव्य की सुन्दरताओं से संजोकर आख्यायिकाओं के रूप में उपनिबद्ध किया। इन कवित्व प्रतिमा सम्पन्न ऋषियों के दो प्रमुख वंश थे। एक तो आर्य शाखा से सम्बद्ध था और दूसरा आर्येतर शाखा से ऋषियों के इन दोनों वंशों का सिन्धु संस्कृति तथा वैदिक संस्कृति के उत्थान–पतन में सक्रिय योगदान रहा। उन्होंने अपने–अपने पक्षों की सेनाओं के लिए व्यूह रचना करने के साथ–साथ स्वयं भी युद्धों में भाग लिया। इस प्रकार के ऋषियों में वशिष्ठ, विश्वामित्र, परशुराम और अगस्त्य आदि का नाम लिया जा सकता है। इन ऋषियों ने और उनके उत्तरवर्ती वंशजों ने अपने–अपने युगों की घटनाओं एवं परिस्थितियों के स्वानुभूत सत्य को जन–कवियों की मौखिक ख्यातों के साथ निबद्ध करके इस राष्ट्रीय एवं जातीय इतिहास को सुरक्षित रखा। परम्परा द्वारा अभिरक्षित भारत के लगभग ढाई हजार वर्षों का राष्ट्रीय इतिहास 'रामायण' और 'महाभारत' के रूप में आज हमारे समक्ष है। ये दोनों ग्रन्थ हमारे राष्ट्रीय महाकाव्य हैं। वे इस देश के सुदूर अतीत से अब तक के जन–जीवन के विश्वकोश हैं। उनमें इस राष्ट्र की सांस्कृतिक विरासत सुरक्षित है। इन दोनों के चरित–नायकों और घटनाक्रमों में युगों का अन्तर होते हुए भी सांस्कृतिक एकता है। उनकी धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और नैतिक मान्यताओं में भी लगभग एकता है। ये दोनों राष्ट्रीय महाकाव्य परम्परा से चले आते भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर भी प्रकाश डालते हैं। भारतीय जन–जीवन में परम्परा से जीवनादर्शों की मान्यता के लिए जो मत–मतान्तर चले आ रहे थे, अपने–अपने अस्तित्व की स्थापना के लिए जो अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो गये थे, उनके कारण आचार–विचार और रहन–सहन के क्षेत्रों में निरन्तर विषमताएँ बढ़ती जा रही थीं। इन विषमताओं के फलस्वरूप समस्त भारतीय जन–जीवन दो वर्गों में विभाजित हो गया था। रामायण में इन्हीं दो विरोधी वर्गों की विचारधाराओं का संघर्ष है। रामायण में राम–रावण के बीच का संघर्ष वस्तुतः परम्परा से चली आती दो भिन्न–भिन्न संस्कृतियों का संघर्ष है। 'रामायण' का युद्ध आर्य–आर्येतर संस्कृति के बीच का युद्ध है, जबकि 'महाभारत' का युद्ध भाई–भाई के बीच का युद्ध है। 'महाभारत' में भी पारस्परिक अस्तित्व की स्थापना की होड़ है। उसमें यद्यपि दो विरोधी संस्कृतियों का संघर्ष नहीं है, फिर भी उस संघर्ष के मूल में इतना व्यापक अन्तर्विरोध है, जितना कि भारतीय इतिहास में इससे पूर्व नहीं दिखायी देता है।

पुस्तक चर्चा/विजय मालवीय

शारंगदेव का संगीतरत्नाकर

प्रागैतिहासिक काल से ही भारत में संगीत की समृद्ध परम्परा रही है। गिने–चुने देशों में ही संगीत की इतनी पुरानी एवं इतनी समृद्ध परम्परा पायी जाती है। माना जाता है कि संगीत का प्रारम्भ सिंधु घाटी की सभ्यता के काल में हुआ हालाँकि इस दावे के एकमात्र साक्ष्य हैं उस समय की एक नृत्य बाला की मुद्रा में कांस्य मूर्ति और नृत्य, नाटक और संगीत के देवता की पूजा का प्रचलन। सिंधु घाटी की सभ्यता के पतन के पश्चात् वैदिक संगीत की अवस्था का प्रारम्भ हुआ जिसमें संगीत की शैली में भजनों और मंत्रों के उच्चारण से ईश्वर की पूजा और अर्चना की जाती थी। इसके अतिरिक्त दो भारतीय महाकाव्यों रामायण और महाभारत की रचना में संगीत का मुख्य प्रभाव रहा। भारत में सांस्कृतिक काल से लेकर आधुनिक युग तक आते–आते संगीत की शैली और पद्धति में जबरदस्त परिवर्तन हुआ है। भारतीय संगीत के इतिहास के महान संगीतकारों जैसे कि स्वामी हरिदास, तानसेन आदि ने भारतीय संगीत की उन्नति में बहुत योगदान किया है।

भारतीय संगीत में यह माना गया है कि संगीत के आदि प्रेरक शिव और सरस्वती है। इसका तात्पर्य यही जान पड़ता है कि मानव इतनी उच्च कला को बिना किसी दैवी प्रेरणा के, केवल अपने बल पर, विकसित नहीं कर सकता। संगीतरत्नाकर तेरहवीं शताब्दी में शारंगदेव द्वारा रचित संगीतशास्त्रीय ग्रंथ है। यह भारत के सबसे महत्वपूर्ण संगीतशास्त्रीय ग्रंथों में से है जो हिन्दुस्तानी संगीत तथा कर्नाटक संगीत दोनों द्वारा समादृत है। इसे 'सप्ताध्यायी' भी कहते हैं क्योंकि इसमें सात अध्याय हैं। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के बाद संगीत रत्नाकर ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। बारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में लिखे सात अध्यायों वाले इस ग्रंथ में संगीत व नृत्य का विस्तार से वर्णन है। शारंगदेव, यादव राजा 'सिंहण' के राजदरबारी थे। सिंहण की राजधानी दौलताबाद के निकट देवगिरि थी। इस ग्रंथ के कई भाष्य हुए हैं जिनमें सिंहभूपाल द्वारा रचित 'संगीतसुधाकर' तथा कल्लिनाथ द्वारा रचित 'कलानिधि' प्रमुख हैं। इस ग्रंथ के प्रथम छः अध्याय – स्वरगताध्याय, रागविवेकाध्याय, प्रकीर्णकाध्याय, प्रबन्धाध्याय, तालाध्याय तथा वाद्याध्याय संगीत और वाद्ययंत्रों के बारे में हैं। इसका अन्तिम (सातवाँ) अध्याय 'नर्तनाध्याय' है जो नृत्य के बारे में है। संगीत रत्नाकर में कई तालों का उल्लेख है। इस ग्रंथ से पता चलता है कि प्राचीन भारतीय पारंपरिक संगीत में अब बदलाव आने शुरू हो चुके थे व संगीत पहले से उदार होने लगा था। दसवीं सदी के अंत तक, उस समय प्रचलित संगीत के स्वरूप को 'प्रबन्ध' कहा जाने लगा। प्रबंध दो प्रकार के हुआ करते थे– निबद्ध प्रबन्ध व

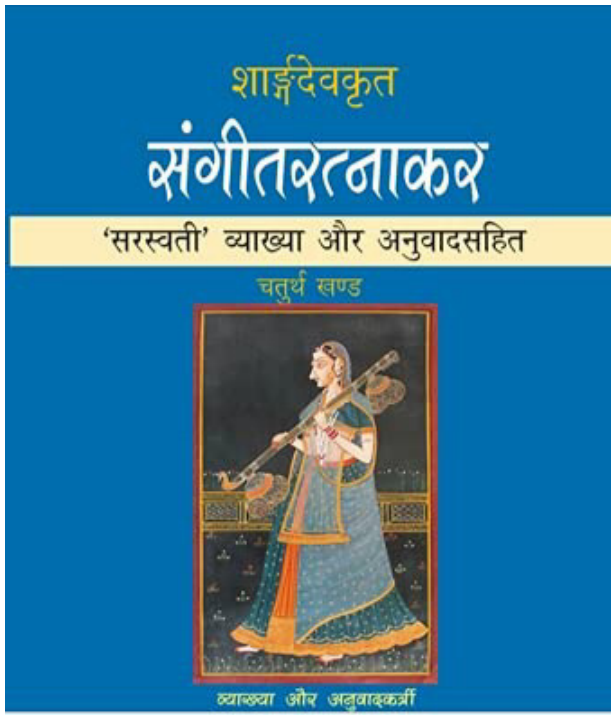

अनिबद्ध प्रबन्ध। निबद्ध प्रबन्ध को ताल की परिधि में रहकर गाया जाता था जबकि अनिबद्ध प्रबन्ध बिना किसी ताल के बन्धन के, मुक्त रूप में गाया जाता था। प्रबन्ध का एक अच्छा उदाहरण है जयदेव रचित गीत गोविन्द। संगीतरत्नाकर एक बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है और यह इस पर लिखी गई कई टिप्पणियों से स्पष्ट है। यह भारतीय संगीतज्ञों और संगीत विद्यालयों के बीच समकालीन समय में एक संदर्भ पाठ के रूप में बना हुआ है। तेरहवीं शताब्दी की संगीता रत्नाकर ने संगीत को दो प्रकारों में वर्गीकृत किया हैः मार्ग–संगीता और देसी–संगीता। मार्ग नाट्य शास्त्र में भरत द्वारा सिखाई गई शास्त्रीय तकनीकों को संदर्भित करता है। देसी संगीता क्षेत्रीय आशुरचनाओं को संदर्भित करता है जो संगीत और प्रदर्शन कलाओं के लिए शास्त्रीय नियमों और संरचना का पालन नहीं कर सकते हैं। प्रथम अध्याय में आठ खण्ड हैं। यह हिंदू भगवान शिव के प्रति श्रद्धेय छंदों के साथ शुरू होता है, जिन्हें 'ध्वनि का अवतार, संपूर्ण विश्व द्वारा गाया जाता है' और वेदों के अनुसार प्रसन्न करने वाला कहा जाता है। संगीतरत्नाकर में कई तालों का उल्लेख है व इस ग्रंथ से पता चलता है कि प्राचीन भारतीय पारंपरिक संगीत में बदलाव आने शुरू हो चुके थे व संगीत पहले से उदार होने लगा था मगर मूल तत्व एक ही रहे।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com